Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. IV, Issue No. VII, July-2012, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

दास प्रथा का इतिहास

AN INTERNATIONALLY INDEXED PEER REVIEWED & REFEREED JOURNAL

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. IV, Issue No. VII, July-2012, ISSN 2230-7540

दास प्रथा का इतिहास

Jamuna Lal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan

सार – *मानव समाज में जितनी भी संस्थाओं का अस्तित्व रहा है उनमें सबसे भयावह दासता की प्रथा है। मनुष्य के हाथों मनुष्य का ही बड़े पैमाने पर उत्पीड़न इस प्रथा के अंर्तगत हुआ है। दासप्रथा को संस्थात्मक शोषण की पराकाष्ठा कहा जा सकता है। एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमरीका आदि सभी भूखंडों में उदय होने वाली सभ्यताओं के इतिहास में दासता ने सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं के निर्माण एवं परिचालन में महत्वपूर्ण योगदान किया है। जो सभ्यताएँ प्रधानतया तलवार के बल पर बनी, बढ़ीं और टिकी थीं, उनमें दासता नग्न रूप में पाई जाती थी। पश्चिमी सभ्यता के विकास के इतिहास में दासप्रथा ने विशिष्ट भूमिका अदा की है। किसी अन्य सभ्यता के विकास में दासों ने संभवत: न तो इतना बड़ा योग दिया है और न अन्यत्र दासता के नाम पर मनुष्य द्वारा मनुष्य का इतना व्यापक शोषण तथा उत्पीड़न ही हुआ है। पाश्चात्य सभ्यता के सभी युगों में यूनानी, रोमन, मध्यकालीन तथा आधुनिक दासों ने सभ्यता की भव्य इमारत को अपने पसीने और रक्त से उठाया है।*

----------X----------

प्रस्तावना

दास प्रथा का इतिहास लेखन वस्तुतः

दासता का इतिहास अतिप्राचीन काल से ही विश्व के विभिन्न सभ्यताओं में व्याप्त रहा है। इस प्रथा से भारत भी अछूता नहीं रहा। दास से मूलतः तात्पर्य यह है कि श्दास किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा अधिकृत और पूर्णतः या अधिकांशतः अधिकार एवं स्वतन्त्रता से रहित व्यक्ति होता है। इस तरह नियमानुसार वह किसी अन्य व्यक्ति की निजी सम्पत्ति होता है जो अपने स्वामी की इच्छा पर आश्रित रहता है और स्वामी उसे किसी भी प्रकार के कार्य के लिए मजबूर कर सकता है और कम से सिद्धान्ततः तो उसे उसके जीवन से भी वंचित कर सकता है। जहाँ तक भारतीय दास प्रथा की बात है तो यद्यपि इस सन्दर्भ में बहुत कुछ लिखा जा चुका है लेकिन उनसे दासता के वास्तविक स्वरूप का यथेष्ट संज्ञान नहीं हो पाता। यह कमजोरी अब तक के भारतीय दास प्रथा पर किए गये कार्यों एवं उनसे निकाले गये निष्कर्षों की गहन समीक्षा से उभरकर सामने आ जाती है। भारतीय दासता पर सर्वप्रथम गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने वालों में मान्टेस्क्यू का नाम लिया जाता है। प्रायः उसके समकालीन आबेरायनाल[1], का भी नाम लिया जाता है जिन्होंने दक्षिण भारत के कृषि दासों, जिन्हें अछूतों की कोटि में रखा गया था, की दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था का चित्रण किया है। 19 वीं शताब्दी ई. में दास प्रथा पर प्रकाशित हुए आबेडुबोइस के शोध सर्वेक्षण में मालाबार के दासों की दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए यह दिखाते हैं कि यह संस्था हिन्दू विधि द्वारा स्वीकृत एक वैधानिक संस्था थी और इसकी जड़ को उन्होंने प्राचीन भारत तक फैली बताया है।

1920 ई० में स्पिर्डफिक के "द सोशल आर्गनाईजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया" नामक ग्रन्थ ने एक अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। उनके अनुसार प्रत्येक बड़ा भूस्वामी तथा समृद्ध व्यापारी दैनिक मजदूरी पर दासों के साथ अतिरिक्त श्रमिक के रूप में ही अन्य श्रमिकों को लगाया करते थे। रिचर्डफिक ने महात्मा बुद्ध एवं उनके बाद के काल में घरेलू दासता के प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कृषकों एवं दासों की स्थिति का चित्रण किया है जबकि मेगस्थनीज ने भारत में दास प्रथा के अस्तित्व से ही इन्कार किया था।

रिजडेविड ने घरेलू दासता के अस्तित्व को साक्ष्यों के आधार पर पुष्ट करते हुए रोम और यूनान की तरह दासों के बड़े पैमाने पर कृषि एवं खानों में नियोजित करने से अपनी असहमति व्यक्त की। यही नहीं उन्होंने भारतीय दासों की दशा को वहाँ की अपेक्षा अच्छी बताते हुए यह संभावना व्यक्त की कि मेगस्थनीज को भारत में दास प्रथा इसलिए नहीं दिखाई पड़ी क्योंकि वह पाश्चात्य देशों के दासों को भारतीय सन्दर्भ में ढूँढ़ रहा था। रिजडेविड्स के बाद आर.के. मुकर्जी ने भी इसी से मिलता-जुलता तर्क प्रस्तुत किया। प्राचीन भारतीय दासता पर सर्वप्रथम मार्क्सवादी ढांचे की आरोपित करने वाले इतिहासकारों में एस. ए. डाँगे का नाम लिया जाता है जिन्होंने सर्वप्रथम यह मत व्यक्त किया कि भारत में दासता के सन्दर्भ कोई आकस्मिक

www.ignited.in

घटना के परिणाम नहीं थे। विश्व की अन्य सभ्यताओं की तरह भारत में दासता समाजार्थिक संरचना का आधार थी और भारत आदिम समाज से दास समाज की ओर अभिमुख हुआ था। 1949 में डाँगे ने भारतीय दासता एवं सामन्तवाद की परिभाषा देते हुए लिखा कि "हम कह सकते हैं कि एक तरफ जहाँ वर्णाश्रम धर्म जाँगल युग की उत्तरवर्ती दशा की न्यायिक-नैतिक अभिव्यक्ति है और साथ ही दासता एवं सभ्यता की अभिव्यक्ति है वहीं दूसरी ओर जाति व्यवस्था भारतीय सामन्तवाद के उद्भव और विकास की द्योतक है। डांगे के अनुसार प्राचीन भारत में दासता उत्पादन का प्रमुख आधार थी और विश्व की अन्य सभ्यताओं से अलग प्रकार की दासता यही नहीं थी। भारतीय इतिहास पर पैनी दृष्टि अपनाते हुए इतिहास लेखन के प्रति समर्पित डी. बी. कोसाम्बी ने डाँगे द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त इतिहास की तकनीकी अवधारणा की कटु आलोचना की। लेकिन कोसाम्बी ने भी उत्पादन सम्बन्धों में सेवि वर्ग के निर्माण को एक प्रधान परिवर्तन करार दिया। कोसाम्बी के अनुसार यह सेवि वर्ग प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में निरन्तर विकसित होता हुआ धीरे-धीरे शूद्रों का सामीप्य ग्रहण कर बैठा।

यद्यपि समस्त शूद्रों को दास से समीकृत नहीं किया जा सकता लेकिन दास और शूद्र मिलकर इस सेवि वर्ग का निर्माण करते थे जिनमें कर्मकारों को भी शामिल कर लिया गया। इस प्रकार कोसाम्बी ने प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना की विशिष्टताओं को ढूढ़ते हुए एक सीमा तक दासता की रूपरेखा को निर्धारित करने का प्रयास किया। भारतीय इतिहास में कोसाम्बी ने दासों को उत्पादन पद्यति एवं सामाजिक संरचना से जोड़कर एक ऐसे संतुलित ज्ञान का परिचय दिया जो आगे के इतिहासकारों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ। साथ ही दासों को पण्य वस्तु के रूप में चित्रित करके भविष्य में इनके व्यापार का मार्ग भी प्रस्तुत कर दिया गया।[12] डाँगे एवं कोसाम्बी दोनों की भारतीय समाजार्थिक संरचना में दासों की भूमिका के अध्ययनों में कुछ कमियों की ओर कतिपय इतिहासकारों ने संकेत किया है।[13] यू. एन. घोषाल तथा के. एम. सरन ने क्रमशः लगभग 200 ई. पू. से 400 ई. के बीच तथा प्राचीन भारत में श्रम की विभिन्न कोटियों में से एक कोटि के रूप में दासों की चर्चा की है। इन दोनों ने दासों का वर्णन विवरणात्मक पद्धति से ही किया है।

1960 में डी. आर. चानना ने प्राचीन भारतीय दास प्रथा को समर्पित एक स्वतंत्र ग्रन्थ "स्लेवरी इन एन्शिऐन्ट इण्डिया" का प्रणयन करके एक ऐसा मील का पत्थर स्थापित किया जो भले ही केवल पालि ग्रन्थों पर आधारित लगभग 500 ई. तक का दासता का इतिहास अपने में समेटे हुए रहा हो फिर भी आगे आने वाले उन इतिहासकारों जो भारतीय दास प्रथा पर काम करना चाहते थे, के लिए एक अनिवार्यता बन गई। चानना ने पहली बार दास प्रथा पर किये गये इतिहास लेखन का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए सैन्धव सभ्यता से लेकर मौर्यों के पतन तक का भारतीय दासता का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में स्मृतियों के हवाले से नारद एवं कात्यायन तक के दासों का अध्ययन का विषय बना लिया है। डी. आर. चानना ने सेवि वर्ग के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसे उत्पादन प्रक्रिया के साथ-साथ युद्ध के साथ भी जोड़ने का प्रयास किया। लेकिन चानना का कार्य कोई ऐसा मौलिक परिवर्तन प्रदर्शित करता हुआ नहीं प्रतीत होता जैसा कि उस काल की भारतीय अर्थव्यवस्था के मौलिक परिवर्तनों में घटित हो रहा था। आर. एस. शर्मा ने चानना के इस ग्रन्थ की कमियों को उजागर करते हुए यह दिखाया है कि इस ग्रन्थ में भारतीय दासता एक स्थाई भूमिका में खड़ी दिखाई देती है, उसमें कोई हलचल नहीं होती है जबकि प्राचीन भारतीय दासता का स्वरूप समय . समय पर परिवर्तित होता रहा है।

समाजार्थिक परिवर्तनों के साथ दासता को जोड़कर अध्ययन करने का प्रयास चानना ने नहीं किया। 1965 में लल्लन जी गोपाल ने अपने एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ में पूर्वमध्यकालीन दास प्रथा पर एक अलग अध्याय लिखकर चानना द्वारा छोड़े गये अधूरे पक्ष को कुछ सीमा तक पूरा करने का प्रयास किया। इस प्रयास में उन्होंने पूर्वमध्यकालीन भारत में दासों के प्रमाणों के आधार पर यह मत व्यक्त करने की कोशिश की कि अधीत काल में दासों का आयात-निर्यात हो रहा था। दास एक वस्तु के रूप में बेंचे जा रहे थे। सैकड़ों युद्धों में हजारों की संख्या में युद्धबन्दी दास बनाये जा रहे थे।

इसके बावजूद स्मृतियों में दासद्दमुक्ति की अनेक व्यवस्थाएं, उनके वैधानिक अधिकार तथा कतिपय अन्य उच्च स्थिति के प्रमाण मिलते हैं। इन प्रमाणों के आधार पर लल्लन जी गोपाल ने यह मत व्यक्त किया कि पूर्व मध्यकालीन भारत में दासों की स्थिति में परिमाणात्मक वृद्धि तो हो रही थी लेकिन गुणात्मक गिरावट का प्रमाण भी विद्यमान था। मानव मूल्यों में गिरावट को संख्यात्मक वृद्धि के साथ स्वीकार करते हुए लल्लन जी गोपाल ने दासों को पूर्वमध्यकाल में कृषि एवं अन्य उत्पादन कार्यों में संलग्न दिखाते हुए अशुभ कर्मों से दासों के पार्थक्य को दिखाने का प्रयास किया।[19] प्राचीन भारतीय समाजार्थिक इतिहास लेखन में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए आर.एस. शर्मा द्वारा किये गये योगदान को इस अवसर पर विस्मृत नहीं किया जा सकता। यद्यपि उन्होंने भारतीय दास प्रथा पर अलग से कार्य नहीं किया लेकिन अपने अनेक ऐतिहासिक मानक ग्रन्थों में सामन्ती समाज की अर्थव्यवस्था के अभ्युदय के लिए दास श्रम की आवश्यकता को महसूस करते हुए भारतीय दासता पर बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने उत्पादन पद्धति और सेवि वर्ग के बीच अटूट रिश्ता कायम करते हुए सेवि वर्ग को अधिकांशतया ऐसे

शूद्रों से निर्मित बताया जो दास थे। ऐसी विद्वतापूर्ण संकल्पनाओं में उन्होंने दासों एवं शूद्रों के बीच में कोई मौलिक अन्तर नहीं रखा है।

डी. डी. कोसाम्बी द्वारा अपनाए गये रास्ते को आगे बढ़ाते हुए आर. एस. शर्मा ने यह मत व्यक्त किया कि पूर्वमध्यकालीन भारत में दासता का स्वरूप हासोन्मुख हो गया था जिसके कारणों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि अधीत काल में दासों में वर्ग चेतना का संचार हो रहा था, उनकी मुक्ति के विधान बनाए दर जा चुके थे तथा दासों को केवल अशुभ कर्मों में नियोजित करके शुभत्व की सीमा में आने वाले कार्यों से उन्हें पृथक कर दिया गया था और विशुद्ध रूप से घरेलू दासता अधीत काल में प्रचलित थी। इस युग में आकर अतिरिक्त उत्पादन दास श्रम पर आधारित न होकर बेगार श्रम पर आधारित हो गया और इस प्रकार अर्थव्यवस्था के ढाँचे के ढह जाने के बाद उसके बिखरे हुए टुकड़ों पर सामन्ती समाज और अर्थव्यवस्था की शानदार इमारत खड़ी हो गई। इस प्रकार आर. एस. शर्मा ने पहली बार भारतीय दास प्रथा को ऐतिहासिक भौतिकवादी विकास की प्रक्रिया से जोड़कर एक ऐसे युग का सूत्रपात किया जिसका अधिकांश इतिहासकारों ने अनुकरण करने का प्रयास किया लेकिन इतिहासकारों का एक दूसरा वर्ग ऐसा भी था जो इन प्रतिस्थापनाओं से अपनी साक्ष्य सम्मत अहसमति व्यक्त करते हुए दासों को ऐसी किसी भी संरचना के लिए आवश्यक नहीं मानता।

जे. डी. एम. डेरेट[22], पी.सी. जैन तथा डी. एन. गांगुली ने भारतीय दास प्रथा पर कुछ प्रकाश डाला है। डेरेट ने दासों के वैधानिक पक्ष को उभारा तथा पी. सी. जैन ने के. एम. सरन की तर्ज पर श्रमिको की एक कोटि के रूप में दासों का एक रूप प्रस्तुत किया जबकि गांगुली ने ब्रिटिश काल की भारतीय दासता का चित्र उपस्थित किया है। बी. एन. एस. यादव ने पहली बार प्राचीन भारतीय समाजार्थिक संरचना में सामन्तवादी प्रवृत्तियों को ढूंढते हुए स्वामी-सेवक सम्बन्ध को सामन्तवाद की अवधारणा का एक मुख्य तत्व माना है। इनके अनुसार पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक अस्थिरता, व्यापार एवं वाणिज्य में आने वाली गिरावट के कारण कृषकों के कृषि दासत्व की प्रवृत्ति भी जोर पकड़ने लगी। पूर्व मध्यकालीन ताम्रपत्रों एवं प्रस्तर लेखों में घने जंगलों एवं कबायली इलाकों में ब्राह्मणों को भूमिदान एवं ग्रामदान बड़े पैमाने पर दिये जाने लगे। स्पष्टतः नई भूमि खेती योग्य बनाई जा रही थी और इसी के साथ-साथ वर्ण व्यवस्था की परिधि के बाहर कबायली जनसंख्या भी खेती-बाड़ी में उनके योगदान के माध्यम से वर्ण व्यवस्था के अन्दर धीरे-धीरे लाई जा रही थी। इनके अनुसार इस प्रक्रिया ने कृषकों के कृषि-दासत्व की प्रवृत्ति को बढ़वा दिया होगा। पूर्व मध्यकालीन दान पत्रों में दिखाई पड़ने वाली कतिपय प्रवृत्तियों के आधार पर आर. एस. शर्मा यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भूमि दानों के माध्यम से समाज में एक मध्यस्थ हिताधिकारी वर्ग की सृष्टि हो गई जिसने कृषकों पर अपने शोषण का शिकंजा कस लिया और उन्हें अपनी अनार्थिक जोर जबरदस्ती का शिकार बनाकर धीरे-धीरे कृषि दासत्व को सोचनीय स्थिति में पहुँचा दिया।

इस प्रकार भूमिदानों के माध्यम से होने वाला खेतों का यह प्रसार कृषकों की कीमत पर हुआ जिसके अन्तर्गत बेगार श्रम दास श्रम का स्थान ले रहा था और कृषकों को कृषि दासत्व की ओर ढकेलता जा रहा था। बी. एन. एस. यादव ने आर. एस. शर्मा द्वारा निकाले हुए इन निष्कर्षों से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए पूर्वमध्यकालीन भारतीय दासता के स्वरूप को ह्रासोन्मुखी बताया है। इन्होंने पहली बार ज्योतिष ग्रन्थों के आधार पर पूर्व मध्यकालीन भारतीय दासता को अपने पूर्व स्थापित प्रतिमानों में पिरोकर एक ऐसा ढाँचा खड़ा किया जिसमें प्रेष्य, भृतक, दास, कर्मकार, बन्धकों तथा अन्य सेवि वर्गों के बीच कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं दिखाई पड़ता।

दासों का सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत दासों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों का गहनतापूर्वक अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है। इसके अन्तर्गत उनके रहन-सहन, उनके पारिवारिक जीवन, उनके साथ किये द्य प्रया - जाने वाले व्यवहार, उनकी साम्पत्तिक अधिकार, उनके दासता से मुक्ति के विधान आदि तथ्यों को जानने का प्रयास किया गया है।

साथ ही साथ इसी के अन्तर्गत देवदासियों के सामाजिक जीवन को भी संक्षिप्त में उकेरा गया है। प्राचीन भारतीय साहित्यिक तथा अभिलेखिक स्रोतों में दासों के सन्दर्भ में अनेक आख्यान उपलब्ध हैं जिनके आधार पर दासों की सामाजिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। सैंधव सभ्यता काल में साहित्यिक स्रोतों की भूमिका न होने से इस सन्दर्भ में एकमात्र अनुमान ही किया जा सकता है। किन्तु स्पष्टतः कोई मत स्थापित करना मुश्किल है। किन्तु वैदिकालीन साक्ष्यों में आये दास-दस्युओं के आख्यान और दासों के लिए प्रयुक्त अब्रह्मन, अदेवयुः, अन्यव्रत, मृधवाचः, अनासा से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सामाजिक जीवन में उनकी स्थिति निम्नतम् बिन्दु पर विद्यमान था।

www.ignited.in

यूनान

यूनानी इतिहास के प्राचीनतम स्त्रोतों में दासव्यवस्था के अस्तित्व का वर्णन प्राप्त होता है। यूनान के आदिकवि होमर (ई. पू. 900 के करीब) के महाकाव्यों-ओडिसी तथा इलियड – में दासता के अस्तित्व तथा उससे उत्पन्न नैतिक पतन का उल्लेख है। ई. पू. 800 के पश्चात् यूनानी उपनिवेशों की स्थापना तथा उद्योगों के विकास के कारण दासों की माँग तथा पूर्ति में अभिवृद्धि हुई। दासों की प्राप्ति का प्रधान स्रोत था युद्ध में प्राप्त बंदी किंतु मातापिता द्वारा संतानविक्रय, अपहरण तथा संगठित दासबाजारों से क्रय द्वारा भी दास प्राप्त होते थे। जो ऋणग्रस्त व्यक्ति अपना ऋण अदा करने में असमर्थ हो जाते थे, उन्हें भी कभी कभी इसकी अदायगी के लिए दासता स्वीकार करनी पड़ती थी। एथैंस, साइप्रस तथा सेमोस के दासबाजारों में एशियाई, अफ्रीकी अथवा यूरोपीय दासों का क्रय विक्रय होता था। घरेलू कार्यों अथवा कृषि तथा उद्योग धंधों संबंधी कार्यों के लिए दास रखे जाते थे। दास अपने स्वामी की निजी सपत्ति समझा जाता था और संपत्ति की भाँति ही उसका क्रय विक्रय हो सकता था। कभी कभी स्वामी प्रसन्न होकर स्वेच्छा से दास को मुक्त भी कर देते थे और यदाकदा दास अपनी स्वतंत्रता का क्रय स्वयं भी कर लेता था।

यूनान में दास बहुत बड़ी संख्या में थे और ऐसा अनुमान है कि एथैंस में दासों की संख्या स्वतंत्र नागरिकों से भी अधिक थी। दासों तथा नागरिकों के भेद का आधार प्रजाति न होकर सामाजिक स्थिति थी। प्राय: सभी यूनानी विचारकों ने दासता पर अपने मत प्रकट किए हैं। अरस्तू के अनुसार दासता स्वामी तथा दास दोनों के लिए हितकर है किंतु अफलातून ने दासता का विरोध किया था क्योंकि इसे वह अनैतिक समझता था।

रोम

रोम के उत्थान के साथ दासव्यवस्था भी अपने पूर्णत्व को प्राप्त हुई। दासता का सबसे अधिक सबंध युद्धविजय से रहा है। विजेताओं द्वारा अपनी सेवा के लिए पराजितों का उपयोग करना युद्ध की स्वाभाविक परिणति रही है। रोमन साम्राज्य का अभ्युदय एवं प्रसार सैन्यबल पर हुआ अत: रोम में दासप्रथा का प्रचलन अत्यधिक हुआ। रोमन गणराज्य के उत्तरार्ध (ई.पू. तीसरी एवं दूसरी शती) में जब अधिकांश स्वस्थ रोमन नागरिकों को कार्थेजी युद्धों में संलग्न होना पड़ा तो भूस्वामियों ने युद्धबंदियों को कृषिकार्यों के लिए दासों के रूप में क्रय करना प्रारंभ किया। इन युद्धों के कारण रोम में दासता का अभूतपूर्व प्रसार हुआ। प्रकार का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि उस समय डेलोस द्वीप के एक प्रमुख दासबाजार में एक दिन में 10,000 दासों का क्रयविक्रय साधारण बात थी। कहते हैं कि आगस्टस के समय में जब एक नागरिक की मृत्यु हुई तो अकेले उसके अधिकार में ही उस समय चार हजार दास थे। शीघ्र ही इतालवी ग्राम समुदायों में दासों का बहुमत हो गया। नगरों में भी दासों का घरेलू कार्यों के लिए रखा जाता था। रोमन नागरिकों के मनोंजनार्थ दास योद्धाओं-ग्लैडियेटर्स को कवचहीन स्थिति में शस्त्रयुद्ध करना पड़ता था। इस युद्ध में मृत्यु हो जाना साधारण घटना थी।

जब रोमन साम्राज्य में बहुसंख्यक दासों पर होनेवाला दुस्सह अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच गया तो इटली तथा सिसली के ग्रामीण क्षेत्रों में दासविद्रोहों का सिलसिला शुन्य डिग्री हो गया। सबसे प्रबल दासविद्रोह ई. पू. 73 के करीब ग्लैडियेटर्स के वीर नेता स्पार्टाकस के नेतृत्व में हुआ। विद्रोही दाससेनाओं का आकार निरंतर बढ़ता गया और एक समय तो समस्त दक्षिणी इटली दासों के हाथ में चला गया था। रोमन साम्राज्य के अंतिम चरण में जब साम्राज्यप्रसार रुक गया तो नए दासों का प्राप्त होना बंद हो गया। फलत: रोमन दासों की स्थिति भी सुधरने लगी। दासता के स्थान पर अर्ध-दासता बढ़ने लगी। रोमन साम्राज्य तथा व्यवस्था की अस्थिरता एव पतन का एक प्रधान कारण दासप्रथा थी। बहुसंख्यक दासों का अपने शोषण और उत्पीड़न पर खड़ी व्यवस्था से कोई लगाव न होना स्वाभाविक था। ऐसी स्थिति में रोमन व्यवस्था की जड़ें सामाजिक दृष्टि से अधिक पुष्ट न हो सकीं।

यूरोपीय देश

दासता को निर्ममता के शिखर पर पहुँचानेवाले रोमन साम्राज्य के विघटन के उपरांत यूरोप में दासप्रथा की कठोरता में कुछ कमी आई। अब यूरोपीय देशों को अधिकतर दास स्लाव क्षेत्र से प्राप्त होते थे। दास शब्द के अंग्रेजी, यूरोपीय भाषाओं के पर्याय श् स्लेव श् शब्द की व्युत्पत्ति इसी से हुई है। यूरोप में 10 वीं तथा 14 वीं शती के बीच दासप्रथा सामान्य रूप में चलती रही। 14 वीं शती के आस पास पूर्वी यूरोप तथा पश्चिमी एशिया पर होनेवाले आक्रमणों से पश्चिमी यूरोप को पुन रू युद्धबंदियों की प्राप्ति होने लगी। मध्ययुग के अंतिम चरण में राष्ट्रवाद और कट्टर धार्मिकता के सम्मिश्रण से युद्धबंदियों के प्रति असहिष्णुता बरती गई। गैर ईसाई बंदियों को "यीशु के शत्रु" घोषित कर दासों के रूप में उन्हें क्रय करने का धर्मादेश एक बार सर्वोच्च धर्मगुरु पोप ने स्वयं जारी किया था। पादरियों की सेवा के लिए रखे जानेवाले गिरजाघर के दासों की स्थिति कुछ मानों में घरेलू दासों से भी बदतर थी। युद्धबंदियों की प्राप्ति से एक बार फिर इतालवी दासव्यापारियों का भाग्य चमक उठा। मनुष्यों के यह व्यापारी तुर्की से सीरियाई, आर्मीनीयाई तथा स्लाव दासों को लाकर भूमध्यसागरीय देशों की माँग पूरी करते थे। इसी काल से

ओटोमन तुर्कों के इस्लामी साम्राज्यप्रसार ने भी दासता को बढ़ाया।

15 वीं शती के मध्य के करीब पुर्तगाली नाविकों ने हब्शी दास व्यापार में अरबों का एकाधिकार समाप्त कर दिया। पहली बार अफ्रीकी दासों का व्यापार समुद्री मार्ग से प्रारंभ हुआ। पुर्तगाल में दासों की माँग निरंतर बढ़ती जा रही थी क्योंकि मूर युद्धों एवं औपनिवेशिक प्रसार के कारण पुर्तगाली जनसंख्या घटती जा रही थी। दासों का आयात इतना बढ़ा कि 16 वीं शती में पुर्तगाल के अनेक क्षेत्रों में श्वेतों की अपेक्षा हब्शियों की संख्या अधिक हो गई थी। चूँकि दासता में रंगभेद प्रबल नहीं था अतएव मुक्त रूप से रक्तसंमिश्रण होता था। पुर्तगालियों की धमनियों में आज भी हब्शी रक्त तथा श्वेत रक्त साथ साथ बहता है। पुर्तगाल के अलावा स्पेन में भी काले दास रखे जाते थे।

नई दुनिया

पश्चिमी सभ्यता के आधुनिक युग में पदार्पण करने पर एक बार फिर रोमन युग की तरह दासता का प्रसार तब बढ़ा जब साहसिक यूरोपीय नाविकों ने अमरीकी महाद्वीपों की खोज की तथा उपनिवेशों की नींव रखी। नई दुनिया के पश्चिमी द्वीपसमूह, मैक्सिका, पेरू, ब्राजील आदि देशों में उत्पादित गन्ने, कपास, तंबाकू जैसी वस्तुओं की माँग यूरोप में होने लगी। इन वस्तुओं का सबसे सस्ता उत्पादन दास की मेहनत के आधार पर होता था। स्पेन के तत्वावधान में सर्वप्रथम नई दुनिया की खोज करनेवाले कोलंबस ने स्वयं ही पश्चिमी द्वीपसमूहों के मूलवासियों को दास बनाना प्रारंभ किया था। तदुपरांत इन यूरोपीय उपनिवेशों की धरती के पुत्रों की जो दुर्दशा दासों के रूप में की गई उसका कुछ अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि स्पेन के औपनिवेशिक युग का अंत होते होते पश्चिमी द्वीपसमूहों के कैरिबी मूल निवासियों का नामोनिशान मिट चुका था। उधर दक्षिणी अमरीका के ब्राजील आदि देशें में पुर्तगालियों ने बड़े पैमाने में व्यापार चलाया। ख्रिस्तानी यूरोपीय "सभ्यों" के अनुसार "असभ्य" मूल निवासियों को श् सच्चे धर्म श् में दीक्षित कर सभ्य बनाने का एकमात्र मार्ग उन्हें दास बना लेना था और सभ्य बनाने की इस प्रक्रिया में सब कुछ क्षम्य था।

हब्शी दासता

1510 ई. के करीब जब अफ्रीकी हब्शी दासों से लदा पहला जहाज नई दुनिया पहुँचा तो दासता के इतिहास में एक नया मोड़ आया। मूलनिवासी दास कभी कभी अपनी विद्रोही गतिविधियों के कारण श्वेत महाप्रभुओं का सरदर्द बन जाते थे और साथ ही स्पेन एवं पुर्तगाल के राजा तथा धर्मगुरु भी उन दासों के प्रति सहिष्णुता बरतने की चर्चा करने लग जाते थे। मूलनिवासी दासों की तुलना में ये नए हब्शी दास अधिक आज्ञाकारी तथा कठोर श्रमी थे जिसका प्रधान कारण इन हब्शियों का अपनी अफ्रीकी मातृभूमि से दूर सात समूद्र पार रहना था। अत रू हब्शियों की माँग बढ़ने लगी। गन्ने, कपास के खेतों में और खानों में दास-श्रम पहले से भी अधिक उपयोगी हो गया। फलत: हब्शियों का आयात इतना बढ़ा कि शीघ्र ही पश्चिमी द्वीपसमूहों में उनका बहुमत हो गया। लालची यूरोपीय शक्तियों के तत्वावधान में दासव्यापार की निजी कंपनियों में ऐसी घोर प्रतिस्पर्धा चली कि 18 वीं सदी के प्रारंभ तक हब्शी दासव्यापार पराकाष्ठा पर पहुँच गया। अंग्रेज तो इस काम में रानी एलिजाबेथ के काल में ही निपुण हो चुके थे क्योंकि रेले, गिलबर्ट, हाकिंस तथा ड्रेक जैसे व्यक्ति अपहरण, लूटमार आदि तरीकों से दासव्यापार चलाकर इंग्लैंड को समृद्ध बना रहे थे।

हब्शियों को वस्तुओं के बदले प्राप्त कर और जहाजों में जानवरों की तरह ठूँसकर अतलांतिक पार अमरीका ले जाया जाता था। वहाँ उन्हें बेचकर चीनी, कपास, चावल तथा सोने से लदे जहाज यूरोप लौटते थे। वास्तव में इंग्लैंड, अमरीका तथा यूरोपीय पूँजीवाद का एक प्रमुख आधार दासव्यापार है। एक अनुमान के अनुसार सन् 1680-1786 के बीच लाख हब्शियों को अतलांतिक पार ले जाया गया। इन दासों को अपने विभिन्न यूरोपीय स्वामियों की भाषा तथा धर्म को भी ग्रहण करना पड़ता था क्योंकि उन्हें उस नरक में अपनी सांस्कृतिक विरासत को जीवित रखने के अवसर ही कहाँ प्राप्त हो सकते थे। आत्महत्या या पलायन के आलावा मुक्ति के कोई मार्ग न थे। हब्शी दास श्वेत स्त्रियों के साथ संपर्क की कल्पना भी नहीं कर सकते थे जब कि श्वेत स्वामी हब्शियों के साथ यौन संबंध कर लेते थे। किंतु वर्णसंकर संतानें कुछ अपवादों को छोड़कर दासता का ही स्तर प्राप्त करती थीं। हब्शी दासों के आवास अत्यंत दयनीय तथा भोजन निकृष्टतम होता था। दास झुंडों के श्वेत निरीक्षक खेतों या खानों में काम कराते समय उनपर चाबुकों का खुलकर प्रयोग करते थे।

उत्तरी अमरीका तथा विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका के इतिहास में हब्शी दासता तथा तज्जनित स्थितियों का प्रारंभ से लेकर आज तक विशेष महत्व रहा है। दासप्रथा के कारण ही वहाँ तंबाकू, कपास आदि की कृषि में आश्चर्यजनक प्रगति हुई तथा भूमि से अप्रत्याशित खनिज संपत्ति निकाली गईय दासव्यवस्था ने ही संयुक्त राज्य को पूँजीवादी तथा औद्योगिक प्रगति में विश्व का अगुआ बनने में सबसे अधिक सहायता दी हैय तथा दासप्रथा ने ही संयुक्त राज्य के राजनीतिक इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है क्योंकि दासता के प्रश्न पर उक्त

www.ignited.in

राष्ट्र भीषण गृहयुद्ध से गुजरकर विभाजित होते होते बचा है। यद्यपि संयुक्त राज्य में दासता पहले अवैधानिक करार दी जा चुकी थी तथापि आज भी वहाँ की सबसे बड़ी राष्ट्रीय समस्या हब्शी समस्या है जिसका पूर्ण समाधान दृष्टिगत नहीं हो रहा है। यह उन्हीं हब्शियों की समस्या है जिनके पर्वज श्वेत महाप्रभुओं के क्रीतदास थे।

संयुक्त राज्य में 18 वीं शती में जब हब्शियों के विद्रोहों की कुछ संभावना होने लगी तो वैधानिक रूप से हब्शियों के लिए शस्त्रधारण, ढोल नगाड़े रखना तथा रात्रि में सड़कों पर निकलना वर्जित कर दिया गया। जब वर्जिनिया में, जो संयुक्त राज्य में काले दासों का प्राचीनतम तथा विशालतम केंद्र था, नेट टर्नर नामक दास पादरी के नेतृत्व में एक छोटा विद्रोह हुआ तो दास राज्यों में हब्शियों को पढ़ना-लिखना सिखाना भी अवैधानिक घोषित कर दिया गया। संयुक्त राज्य में दाथा की प्रधान विशेषता रंगभेद रही है।

यद्यपि प्रारंभ में दासों पर भयावह अत्याचार होते थे और उन्हें असहनीय कष्ट उठाने पड़ते थे, फिर भी धीरे-धीरे उनके प्रति अधिक उदारतापूर्ण व्यवहार किया जाने लगा। एथेंस में यदि किसी दास के साथ कष्टकर दुर्व्यवहार होता था तो वह किसी दूसरे स्वामी के हाथ बेच दिए जाने की माँग कर सकता था। उसके स्वामी को यह अधिकार न था कि जब इच्छा हो तब उसके प्राण ले ले। मालिक के परिवार के किसी व्यक्ति की हत्या कर देने पर भी उसके स्वामी को यह अधिकार न था। सामान्यतया न्यायालय में मुकदमा चलाए बिना उसे प्राणदंड नहीं दिया जा सकता था। रोम में उनकी स्थित सुधारने में अधिक समय लगा। वहाँ दास के प्राण ले लेने की पूरी छूट स्वामी को थी। उसे विवाह करने का अधिकार न था। बहुत से दासों को अक्सर रात में जंजीरों से बाँधकर रखा जाता था। क्रमश रू इस स्थिति में थोड़ा सुधार होता गया। कुछ मालिकों ने अपने बच्चों की अच्छी तरह देखभाल करने पर दासों को स्वतंत्र कर देने का आश्वासन देना शु डिग्री किया और कुछ ने उन्हें निर्धारित अवधि तक कड़ी मेहनत करने पर छोड़ देने का वचन दिया। कानून के अनुसार बच्चों को गुलाम के रूप में बेचने की मुमानियत कर दी गई और कर्ज चुकाने के लिय भी किसी को दास बनाने पर रोक लगा दी गई।

दास प्रथा का उन्मूलन

पश्चिम में दासप्रथा उन्मूलन संबंधी वातावरण 18 वीं शती में बनने लगा था। अमरीकी स्वातंत्र्य युद्ध का एक प्रमुख नारा मनुष्य की स्वतंत्रता था और फलस्वरूप संयुक्त राज्य के उत्तरी राज्यों में सन् 1804 तक दासताविरोधी वातावरण बनाने में मानवीय मूल अधिकारों पर घोर निष्ठा रखनेवाली फ्रांसीसी राज्यक्रांति का अधिक महत्व है। उस महान क्रांति से प्रेरणा पाकर सन् 1821 में सांतो दोमिंगो में स्पेन के विरुद्ध विद्रोह हुआ और हाईती के हब्शी गणराज्य की स्थापना हुई। अमरीकी महाद्वीपों के सभी देशों में दासताविरोधी आंदोलन प्रबल होने लगा।

संयुक्त राज्य अमरीका के उदारवादी उत्तर राज्यों में दासता का विरोध जितना प्रबल होता गया उतनी ही प्रतिक्रियावादी दक्षिण के दास राज्यों में दासों के प्रति कठोरता बरती जाने लगी तथा यह तनाव इतना बढ़ा कि अंततः उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के बीच गृहयुद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में अब्राहम लिंकन के नेतृत्व में दासविरोधी एकतावादी उत्तरी राज्यों की विजय हुई। सन् 1888 के अधिनियम के अनुसार संयुक्त राज्य में दासता पर खड़े पुर्तगाली ब्राजील साम्राज्य का पतन हुआ। शनैः शनैः अमरीकी महाद्वीपों के सभी देशों से दासता का उन्मूलन होने लगा। 1890 में ब्रसेल्स के 18 देशों के सम्मेलन में हब्श दासों के समुद्री व्यापार को अवैधानिक घोषित किया गया। 1919 के सैंट जर्मेन संमेलन में तथा 1926 के लीग ऑव नेशंस के तत्वावधान में किए गए संमेलन में हर प्रकार की दासता तथा दासव्यापार के संपूर्ण उन्मूलन संबंधी प्रस्ताव पर सभी प्रमुख देशों ने हस्ताक्षर किए। ब्रिटिश अधिकृत प्रदेशों में सन् 1833 में दासप्रथा समाप्त कर दी गई और दासों को मुक्त करने के बदले में उनके मालिकों को दो करोड़ पौंड हरजाना दिया गया। अन्य देशों में कानूनन इसकी समाप्ति इन वर्षों में हुई- भारत 1846, स्विडेन 1859, ब्राजिल 1871, अफ्रिकन संरक्षित राज्य 1897, 1901, फिलिपाइन 1902, अबीसीनिया 1921। इस प्रकार 20 वीं शती में प्रायः सभी राष्ट्रों ने दासता को अमानवीय तथा अनैतिक संस्था मानकर उसके उन्मूलनार्थ कदम उठाए। संभवतः अफ्रीका में अंगोला जैसे पुर्तगाली उपनिवेशों की तरह के दो एक अपवादों को छोड़कर इस समय कहीं भी उस भयावह दासव्यवस्था का संस्थात्मक अस्तिव नहीं है जो आज की पाश्चत्य सभ्यता की समृद्धि तथा वैभव का एक प्रधान आधार रही है।

उपसंहार

उपरोक्त अध्यायों में विवेचित साक्ष्यों का अनुशीलन करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि भारतीय इतिहास के प्रारम्भ से ही दासता का प्रयोग किसी न किसी रूप में होता रहा है। यद्यपि एक संस्था या वर्गीय संरचना के रूप में इनका विकास ऐतिहासिक काल में ही हुआ परिलक्षित होता है। क्योंकि प्रागैतिहासिक समतवादी आदिम सामाजिक संरचना में दासता के विकास का कोई तर्कसंगत प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। वस्तुतः इसका उद्भव एवं विकास तभी संभव हुआ होगा जब भौतिकवादी तत्वों के आधार पर सामाजिक संगठन बनने शुरू हुए होंगे और भौतिक संसाधनों को प्राप्त करने के लिए छोटे-मोटे कबीलाई युद्ध होने

लगे होंगे जो बाद में चलकर साम्राज्यवादी युद्धों में परिवर्तित हुए। इस प्रकार संस्थागत अथवा वर्गीय दासता का प्रारम्भ युद्ध दासों के रूप में ही हुआ होना प्रतीत होता है। यद्यपि व्यक्तिगत दासों का अस्तित्व सेवक के रूप में और प्रारम्भ से माना जा सकता है। सैंधव सभ्यता काल में पुरातात्विक आधार पर दासों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है।

उनकी सामाजिक-आर्थिक जीवन शैली और नगरीय स्वरूप के आधार पर दासता की उपस्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। वैसे भी एक कृषि एवं व्यापार प्रधान नगरीय संरचना बिना कार्यकारी वर्ग के संभव नहीं है और कार्यकारी वर्ग में दासों की उपस्थिति निश्चित रूप से रही होगी। वैदिक काल में इनके बारे में स्पष्ट जानकारी सर्वप्रथम ऋग्वेद से आये दास- दस्युओं के सन्दर्भ से होती है। उत्तरवैदिककालीन लौह आधारित नगरीय क्रान्ति (जैसा कि स्पष्ट है कि आधुनिक खोजों में लोहे की प्राचीनता 1500 ई. पू. तक जाती है जिसके साक्ष्य मल्हार, नल का टीला, चंदौली और झूसी से मिलते हैं) में दासों की महत्वपूर्ण भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा, आर. एस.. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1979 तथा भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973 द्य भारतीय एवं पाश्चात्य सामन्ती-ओमप्रकाश का “सामन्ती राज्य व्यवस्था का विकासात्मक अध्याय जिसे उन्होंने सुस्मिता पाण्डे एवं विवेकदत्त झा के साथ सह लेखक के रूप में राजनीतिक इतिहास तथा संस्थाएं (550 ई. से 1200 ई. तक) भोपाल, 1990 नामक ग्रन्थ में प्रकाशित किया है।
2. कौसम्बी, डी. डी., प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता (अनु.) गुणाकर मूले, दिल्ली, 1993, पृ. 188 तुलनीय-शर्मा, आर. एस., प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1993, पृ. 51
3. शर्मा, आर.एस. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 146-149 तथा पृ. 164
4. अर्थशास्त्र, 2-1.
5. शर्मा, आर. एस., पूर्वो., पृ. 146-147
6. यादव, बी. एन. एस., कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीन काल से मध्यकाल में संक्रमण, इतिहास अंक 1ए दिल्ली 1992, पृ. 68
7. ओमप्रकाश, कन्सेप्चुअलाईजेशन एण्ड हिस्ट्री इन अर्ली इण्डियन सोशियो-इकोनामिक स्टडीज, इलाहाबाद, 1992, पृ. 49-51
8. ओमप्रकाश एवं अन्य, राजनीतिक इतिहास तथा संस्थाएं, पृ. 208
9. ऋग्वेद, 10.90
10. काणे, पी. बी.. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, लखनऊ, 1980, पृ. 114

Corresponding Author

Jamuna Lal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan